**प्रवचन नं. ३३ आलोचना श्लोक १ से ३३, विक्रम संवत् २०१७, भाद्र शुक्ल ४
गुरुवार, दिनांक १४-०९-१९६१**

पद्मनन्दि आचार्य महाराज ने छब्बीस अधिकार रचे, उनमें एक यह नौवाँ अधिकार है। श्री ओम, श्री पद्मनन्दि आचार्य विरचिता, पद्मनन्दि पंचविंशतिका में से आलोचना अधिकार का नौवाँ अधिकार शुरु होता है। आचार्यदेव शुरुआत में मांगलिक करते हैं। आलोचना शुरु करने से पहले मंगलाचरण का मांगलिक करते हैं। **पहली,** हे जिनेश! हे प्रभु! जिन सज्जनों का मन अन्तर और बाह्य मलरहित होकर, तत्त्वस्वरूप और वास्तविक आनन्द के निधान — ऐसे आपका आश्रय करे, यदि उनके चित्त में आपके नाम के स्मरणरूप अनन्त प्रभावशाली महामन्त्र मौजूद हों और आपके द्वारा प्रगट हुए सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्ररूप मोक्षमार्ग में यदि उनका आचरण हो तो उन सज्जनों को एक-एक विषय की प्राप्ति में विघ्न किसका हो? जो मंगलाचरण हम शुरु करते हैं, आलोचना शुरु करते हैं, उसमें हमें विघ्न, हे परमात्मा! आपके नाम का स्मरण है और आपके द्वारा कथित सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र में जिसका चित्त लगा है, उसे भविष्य में किसी प्रकार का विघ्न नहीं होता।

अब आचार्यदेव स्तुति द्वारा, देव कौन हो सकता है? पहले ही आलोचना में देव की व्याख्या। अनादि काल से कुदेव को सेवन किया हो तो सुदेव कैसा होना चाहिए और उस सुदेव की प्राप्ति सुदेव ने कैसे की? — यह दोनों बातें इस **दूसरी गाथा में** कहते हैं। हे जिनेन्द्रदेव! संसार के त्याग के लिये, देखो! मुनिपना, परिग्रहरहितपना आपने अंगीकार किया। बाह्य परिग्रहरहित की, अभ्यन्तर रागरहितपना आपने अंगीकार किया और आपको वीतरागता प्रगट हुई। समता अर्थात् वीतरागता। सर्वथा कर्मों का नाश और अनन्त दर्शन, अनन्त सुख, अनन्त वीर्य सहित समस्त लोकालोक को प्रकाशित करनेवाला केवलज्ञान — ऐसा क्रम आपको ही प्राप्त हुआ था। ऐसे देव के अतिरिक्त मैं दूसरे देव को नहीं मानता — ऐसा कहकर आलोचना करते हैं। परन्तु आप से अतिरिक्त अन्य किसी देव को यह क्रम प्राप्त नहीं हुआ। सर्वज्ञ परमात्मा को जो इस क्रम से सर्वज्ञ हुए, उनके अतिरिक्त दूसरे को कुछ हुआ नहीं। इसलिए आप ही शुद्ध हो और आपके चरणों की सेवा सज्जन पुरुषों

को करना योग्य है। अभी आलोचना शुरु करने से पहले देव का वर्णन करके अन्तर के देव को आत्मा में स्थापित करते हैं।

तीसरा, सेवा का दृढ़ निश्चय और प्रभु सेवा का माहात्म्य। **तीसरी गाथा,** हे त्रिलोकपति! आपकी सेवा में यदि मेरा दृढ़ निश्चय है तो मुझे अत्यन्त बलवान संसाररूप बैरी को जीतना कुछ कठिन नहीं है, क्योंकि जिस मनुष्य को जलवृष्टि से हर्षजनक उत्तम फव्वारेसहित घर प्राप्त हो तो उस मनुष्य को ज्येष्ठ मास का प्रखर मध्याह्न ताप क्या कर सके वैसा है? अर्थात् कुछ नहीं कर सकता — ऐसा प्रभु सेवा का अन्तर माहात्म्य वर्णन किया। कुदेव की जो सेवा अनादि की थी, उसका यह प्रायश्चित्त और आलोचना करते हैं। समझ में आया? अध्यात्म आलोचना है अलौकिक! यह व्याख्यान में एक बार पूरी चल गयी है।

चौथी गाथा, भेदज्ञान द्वारा साधकदशा कैसी होती है? उसका स्मरण करके, पर से एकपना (की) मान्यता थी, उसका छेद किया, इसका नाम आलोचना कहा जाता है। प्रभु! यह पदार्थ साररूप है और यह पदार्थ असाररूप है; इस प्रकार सारासार की परीक्षा में एकचित्त होकर जो कोई बुद्धिमान मनुष्य तीन लोक के समस्त पदार्थों को अबाधित गम्भीर दृष्टि से विचार करता है तो उस पुरुष की दृष्टि में, हे भगवान! आप ही एक सारभूत पदार्थ हो। दूसरे को सार माना हो, उसका यह प्रायश्चित्त। इस जगत में सार असार का विवेक करते हुए प्रभु तीन लोक के नाथ सर्वज्ञ वीतराग परमानन्द की मूर्ति, आप ही एक सार हो अर्थात् मेरा आत्मा ही परमानन्द की मूर्ति एक ही सार है; दूसरा सब मेरे लिये तो असार है। और आपसे भिन्न समस्त पदार्थ असारभूत ही हैं।

अथवा आपके आश्रय से ही चैतन्य आनन्दमूर्ति परमात्मा का स्वभाव के आश्रय से ही मुझे परम सन्तोष हुआ है, मुझे परम सन्तोष और शान्ति है। असन्तोष का त्याग और सन्तोष की प्राप्ति — ऐसा भेदज्ञान करके आलोचना की है। यह साधकदशा वर्णन की है।

पाँचवीं गाथा, अब साधक का फल साध्य को वर्णन करते हैं। साधकदशा में, साध्यदशा उसे कैसी प्राप्त होती है? — उसका ज्ञान-भान करके आलोचना करते हैं। हे जिनेश्वर! समस्त लोकालोक को एकसाथ जाननेवाला आपका ज्ञान, समस्त लोकालोक को एकसाथ देखनेवाला आपका दर्शन है और आपको अनन्त सुख तथा अनन्त बल है।

तथा आपकी प्रभुता भी निर्मलतर है, ईश्वरता; और आपका शरीर भी देदीप्यमान है। परम औदारिक को देवरूप से पहचानकर देव की स्तुति का वर्णन अन्तर में स्थापित करते हैं।

आपका शरीर भी देदीप्यमान है, परमौदारिकशरीर होता है। अरिहन्त हों, उन्हें शरीर में रोगादिक नहीं होते, उसका यह वर्णन करते हैं। इसलिए यदि योगीश्वरों ने आत्मा के स्वरूप में योग जोड़कर, उसके भी ईश्वरों ने सम्यक् योगरूप नेत्र द्वारा आपको प्राप्त कर लिया तो उन्होंने क्या नहीं जान लिया ? तो उन्होंने क्या नहीं देख लिया ? तो उन्होंने क्या नहीं प्राप्त कर लिया ? सर्व कर लिया, देखो ! यह आत्मा की एक आलोचना अध्यात्म। भगवान आत्मा पूर्णानन्दमूर्ति ऐसे सर्वज्ञ परमात्मा को अन्तर में स्थापित किया और ऐसा ही मैं हूँ — ऐसा इस अन्तर में आलोचना — पर से वापस हटकर, आत्मा करता है। आलोचना शुरु फिर होगी, यह तो अभी भूमिका बाँधते हैं। छह गाथाओं तक (भूमिका बाँधते हैं) सातवीं से आलोचना शुरु होगी।

छठवीं, पूर्ण की प्राप्ति का प्रयोजन। हे जिनेश ! आपको ही मैं तीन लोक का स्वामी मानता हूँ, आपको ही जिन—अष्ट कर्मों के विजेता तथा मेरे स्वामी मानता हूँ; मात्र आपको ही भक्तिपूर्वक नमस्कार करता हूँ। दूसरों को मैं नहीं मानता — ऐसा अन्दर विवेक कराते हैं। सदा आपका ही ध्यान करता हूँ। प्रभु ! मेरे चैतन्यस्वभाव में आप ही बसे हो, उसका ही मैं ध्यान करता हूँ, आपकी ही सेवा और स्तुति करता हूँ तथा केवल आपको ही मेरी शरण मानता हूँ, अधिक क्या कहना ? यदि कुछ संसार में प्राप्त होओ तो यह हो कि आपके अतिरिक्त अन्य किसी के साथ भी मुझे प्रयोजन नहीं रहे। आपके अतिरिक्त मुझे कोई प्रयोजन नहीं रहे — यह प्रार्थना करके अब आलोचना शुरु करते हैं। यह तो भूमिका बाँधी। परमात्मा के स्वरूप को, (कि) ऐसे परमात्मा होते हैं, ऐसे परमात्मा इस पद्धति से हो सकते हैं, ऐसे मैं भी इस प्रकार परमात्मा होने को तैयार हो रहा हूँ।

सातवीं, अब आचार्यदेव आलोचना का प्रारम्भ करते हैं। अब आलोचना 'मिच्छामी दुक्कडं' आलोचना नहीं आती ? यह लगा, और मिच्छामी दुक्कडं, मिच्छामी, वह नहीं। यह तो यह मिच्छामी, मेरा पाप दुष्कृत जो है, पुण्य और पाप, दोनों मेरे स्वभाव में नहीं है। उस स्वभाव को सम्हालते हुए, उस विकार का मिथ्या-मिथ्या होओ। अनादि काल से

पुण्य और पाप के भाव सेवन किये, वे मिथ्या होओ; इस प्रकार यहाँ अध्यात्म आलोचना शुरु की है।

महा पद्मनन्दि आचार्य, जिनेश्वर के परम भक्त और आत्मा के परम दास, वे आलोचना कहते हैं। हे जिनेश्वर! मैंने भ्रान्ति से भूतकाल में मन-वचन और काया द्वारा... भूतकाल में... भूत अर्थात् गत काल। गत काल में अन्य से पाप कराये हैं। वह यह स्वीकार करते हैं। स्वयं किये हैं और पाप करनेवाले अन्यों को मैंने सम्मत होकर अनुमोदन किया है। तथा मेरी सम्मति उन्हें दी है; वर्तमान में भी मैं मन-वचन-काया द्वारा किंचित् राग आदि भाग है न? इससे पाप करना, कराना तथा भविष्य काल में मैं मन-वचन और काया द्वारा अन्य से कराऊँगा अर्थात् जरा राग का भाव भविष्य में रहेगा, वहाँ तक होगा - ऐसा कहते हैं।

स्वयं पाप करूँगा, दूसरों करनेवालों को अनुमोदूँगा, उस समस्त पाप की आपके पास बैठकर, आपके समीप बैठकर (अर्थात्) शुद्ध चैतन्य परमात्मा अपना ज्ञायकभाव, उसके समीप में-अन्तर में बैठकर, स्वयं निन्दा—ग्रर्हा करनेवाला, मैं स्वयं पाप की निन्दा (पाप और पुण्य दोनों पाप है, हों!) दोनों की स्वयं निन्दा करनेवाला, उनकी गुरु के पास गर्हा करनेवाला ऐसा मैं, उसके सर्व पाप सर्वथा मिथ्या हो। मेरे स्वभाव के समीप में उस पाप का चूरा हो, वह पाप मेरे पास रहे नहीं। कहो, समझ में आया?

आठवीं, प्रभु की अनन्त ज्ञान-दर्शन शक्ति का वर्णन करते हुए आत्मा के लिये आत्मनिन्दा। मेरी शुद्धि के लिये। अपनी शुद्धि के लिये भगवान का वर्णन करके और गुण के अनुमोदन में शुद्धि के लिये पाप और पुण्य की निन्दा करते हैं। हे जिनेन्द्र! देखो! आप... क्या कहना चाहते हैं अब? मैं कहता हूँ परन्तु वह आपके अनजान में नहीं है, आप तो सर्वज्ञ हो। आप भूत, भविष्य और वर्तमान त्रिकालगोचर अनन्त पर्याययुक्त लोकालोक को सर्वत्र एकसाथ जानते हो। देखो! यह स्वीकार! परमात्मा की दशा ऐसी होती है। तथा देखते हो। वह तो हे स्वामी! मेरे एक जन्म के पापों को क्या आप नहीं जानते? अर्थात् आप अवश्य जानते हो; इसलिए मैं आत्मनिन्दा करते-करते आपके समक्ष स्व-दोषों का कथन, आलोचना करता हूँ। वह केवल मेरी शुद्धि के लिये करता हूँ। आप तो जाननेवाले हो, आप

कहीं मेरी बात को नहीं जानते – ऐसा नहीं है। मेरी शुद्धि के लिये मैं पापों को स्मरण कर जाता हूँ और स्वभाव में एकाग्र होता हूँ। यह भगवान आत्मा की अध्यात्म आलोचना। यह आठवीं गाथा हुई।

नौ, आचार्यदेव, भव्य जीवों को उनके आत्मा को तीन शल्यरहित रखने का बोध देते हैं। तीन शल्यरहित–माया, मिथ्या और निदान। हे प्रभु! व्यवहारनय का आश्रय करनेवाले अथवा मूलगुण और उत्तरगुणों को धारण करनेवाले मेरे जैसे मुनि (मुनि हैं स्वयं, भावलिंगी सन्त हैं), जिन्हें दूषणों का सम्पूर्ण प्रकार से स्मरण है, भान के बाहर बात नहीं है – ऐसा कहते हैं। मेरे ज्ञान में, ख्याल में है। कहीं स्वभाव में से च्युत होकर शुभ और अशुभभाव हुआ हो, वह मेरे ख्याल बाहर बात नहीं है।

उस दूषण की शुद्धि के लिये आलोचना करने और याद करने और विचार में, ध्यान करने आपके समक्ष सावधानीपूर्वक बैठा हूँ, आपके समक्ष सावधानीपूर्वक बैठा हूँ, क्योंकि ज्ञानवान भव्य जीवों को सदा अपने हृदय माया अर्थात् कपट शल्यरहित करना चाहिए। निदान अर्थात् क्रिया के फल के हेतु नहीं करना चाहिए और मिथ्या अर्थात् गहरे–गहरे जरा छोटा भी मिथ्या अभिप्राय की शल्य नहीं रखना चाहिए। इनसे रहित हो तो उसे चारित्र और व्रत हो सकते हैं, वरना नहीं हो सकते। इसके लिये आचार्य स्वयं की बात कर रहे हैं और जगत् को उस प्रकार का बोध / पाठ समझा रहे हैं। तीन शल्यरहित ही रखना चाहिए। यह नौवीं।

स्वभाव में स्वभाव की सावधानी। **दसवीं गाथा,** स्वभाव की सावधानी। हे भगवन्त! इस संसार में सर्व जीव बारम्बार असंख्यात लोकप्रमाण प्रगट या अप्रगट अनेक प्रकार के विकल्प अर्थात् विकारसहित है, शुभ या अशुभ। वे जीव अनेक प्रकार के विकल्पों सहित, उतने ही विविध प्रकार के दुःखों सहित भी हैं। जितने प्रकार के शुभ, अशुभराग के विकल्पसहित हैं, उतने प्रकार के वे जीव दुःखोंसहित हैं। आनन्द तो इन विकल्परहित आत्मा के स्वभाव में है। समझ में आया? परन्तु जितने पुण्य–पाप के विकल्प हैं, उतने प्रायश्चित्त शास्त्र में नहीं हैं। असंख्य प्रकार के शुभाशुभभाव, इनके असंख्य प्रकार के प्रायश्चित्त, शास्त्र में नहीं होते। तब समस्त असंख्यात लोकप्रमाण विकल्पों की शुद्धि,

भगवान! एक साथ में, मैं चैतन्यस्वभाव को अन्तर में स्मरण करते हुए एक-एक का प्रायश्चित्त लेने का नहीं करता, एक साथ उनका नाश करना चाहता हूँ। समझ में आया?

अब यह पाप लगा, उसका यह प्रायश्चित्त लो और यह पाप लगा.... अब इससे असंख्य प्रकार के पुण्य-पाप के भाव, उनके असंख्य प्रकार के शास्त्र में प्रायश्चित्त कहाँ से हों? वे तो संख्यात बोल अन्दर हों, तो प्रभु! कितने अधिक पुण्य और पाप के विकल्पों की वृत्ति जो बन्ध और दुःखदायक है, इसलिए दुःख वर्णन कर गये हैं। उस दुःख का प्रायश्चित्त, आलोचना, प्रभु! आनन्दमूर्ति चैतन्य के समीप जाने से होती है, दूसरा कोई उसमें उपाय है नहीं। समझ में आया? है न? यद्यपि दूषणों की शुद्धि प्रायश्चित्त करने से होती है किन्तु हे जिनपते! जितने दूषण, उतने प्रायश्चित्त शास्त्र में कहे नहीं; इसलिए समस्त दूषणों की शुद्धि आपके समीप में ही होती है।

अब पर से परान्मुख होकर स्व की प्राप्ति। परस्वरूप से हटकर स्वस्वरूप की प्राप्ति। इसकी बात **ग्यारहवीं गाथा में** करते हैं। हे देव! सर्व प्रकार के परिग्रहरहित, समस्त शास्त्रों का ज्ञाता, क्रोधादि कषाय विकाररहित, शान्त, अस्ति में एकान्तवासी भव्य, एकान्त भाव से और द्रव्य से एकान्तवासी भव्य जीव, सभी बाह्य पदार्थों से मन और इन्द्रियों को परान्मुख करके अखण्ड निर्मल सम्यग्ज्ञान की मूर्तिरूप... लो! यह आत्मा। आप अखण्ड, वे खण्ड-खण्ड; इन्द्रियाँ और मन की ओर जानेवाला विकल्प (खण्ड-खण्ड है)। अखण्ड निर्मल सम्यग्ज्ञान की मूर्तिरूप आपमें स्थिर होकर आपको ही देखता है, वह मनुष्य आपके सान्निध्य अर्थात् समीपता को ही प्राप्त करता है। उसे दूसरी दशा प्राप्त नहीं होती।

बारहवीं, स्वभाव की एकाग्रता से उत्तम मोक्ष की प्राप्ति। उत्तम पद मोक्ष की प्राप्ति। हे अरिहन्त प्रभु! पूर्व भव में कष्ट से संचय किये गये महा पुण्य से जो मनुष्य तीन लोक के पूजा के योग्य आपको प्राप्त हुआ है, उस मनुष्य को ब्रह्मा, विष्णु आदि को भी वास्तव में निश्चयपूर्वक अलभ्य ऐसा उत्तम पद प्राप्त होता है। हे नाथ! मैं क्या करूँ? आपमें एकचित्त किये बिना मेरा मन प्रबलरूप से बाह्य पदार्थों के प्रति दौड़ता है, वह मेरे ख्याल में लेता हूँ और ज्ञान में वह नहीं, वैसे उसे विदार देता हूँ। लो, इसका नाम आलोचना।

तेरह, मोक्ष के लिये वीर्य का वेग। आत्मा के संसार का अर्थीपना छोड़कर, मोक्ष के लिये वीर्य का वेग, यह उपोद्घात बनाये हैं ऊपर से। हे जिनेश! यह संसार नाना प्रकार के अर्थात् अनेक प्रकार के दुःख देनेवाला है। जबकि वास्तविक सुख का देनेवाला तो मोक्ष है। देखो! संसार और मोक्ष – दोनों की विवेकदशा! इसलिए उस मोक्ष की प्राप्ति के लिये हमने समस्त धन-धान्य आदि परिग्रह का त्याग किया। आचार्य स्वयं मुनि हैं न! दिगम्बर सन्त भावलिंगी धर्म के मुख्य, वे भगवान के समीप ऐसी आलोचना कर रहे हैं, और जगत की करुणा के लिये आलोचना का यह पाठ छोड़ गये हैं।

प्रभु! हमने समस्त धन-धान्यादि परिग्रह का त्याग किया। तपोवन, तप से पवित्र हुई भूमि में हमने वास किया। सर्व प्रकार के संशय भी छेद डाले और अत्यन्त कठिन व्रत भी धारण किये। मुनि के पंच महाव्रत भी धारण किये। अभी तक ऐसे दुष्कर व्रत धारण करने पर भी मोक्ष की प्राप्ति नहीं हुई। क्यों? हमारे ख्याल में है क्यों नहीं हुई। वह कोई कर्म के कारण या उसके कारण नहीं। प्रबल पवन से कम्पित पत्ते की तरह, प्रबल पवन से कम्पित पत्ते की तरह हमारा मन रात-दिन बाह्य पदार्थ में भ्रमण करता रहता है। तो प्रभु! उस वीर्य का वेग अन्तर में न ढले, तब तक हमारा मोक्ष कैसे होगा? बहिर्मुख में जो वृत्ति जाती है, उस पत्र को पवन ऐसे हलाहल करती है। वैसे मन स्वयं अस्थिर करे, तब तक अन्तर में स्थिरता कैसे हो? यह स्थिरता और अस्थिरता का विवेक किया है।

चौदहवीं, मन को संसार का कारण जानकर पश्चाताप। हे भगवन्त! जो मन बाह्य पदार्थों को मनोहर मानकर, उनकी प्राप्ति के लिये जहाँ-तहाँ भटका करता है, जो ज्ञानस्वरूपी आत्मा को बिना प्रयोजन सदा अत्यन्त व्याकुल किया करता है,... क्योंकि मन और विकल्प मेरे स्वरूप में नहीं है; इसलिए वह मुझे व्याकुल करता है — ऐसा कहना चाहते हैं। जो इन्द्रियरूपी गाँव को बसाता है। मन, मन... इस मन की कृपा से ही इन्द्रियों के विषयों में स्थिति जाती है और जो संसार उत्पादक कर्मों का परम मित्र है, मन। अर्थात् मन आत्मारूप गृह में कर्मों को सदा लाता है। वह मन जहाँ तक जीवित रहता है, वहाँ तक मुनियों को कहाँ से कल्याण की प्राप्ति हो सकती है। आहाहा!

देखो! कहते हैं जब तक मन का संग रहता है, तब तक मुक्ति कैसे हो? ऐसा कहते

हैं। समझ में आया? अर्थात् कल्याण की प्राप्ति नहीं हो सकती। देखो! यह एक बात। वैसे अन्तरचित्त है मन; उसकी ओर भी ढलता भाव, तब तक आत्मा की ओर का ढलता भाव कैसे छेदाये बिना रहे? समझ में आया? इतनी बात। अभी बाहर की तो कहीं पड़ी रही। अन्तर में भगवान आत्मपदार्थ पर झुका भाव, और जरा झुका चित्त ऊपर का संग का (भाव), यह रहे, तब तक हमारी मुक्ति कैसे होगी? हम पूर्ण स्वरूप में सावधान होंगे तो मुक्ति होगी, वरना मुक्ति नहीं होगी। कहो समझ में आया?

पन्द्रहवीं, मोह के नाश के लिये प्रार्थना। मेरा मन, निर्मल और शुद्ध अखण्ड ज्ञानस्वरूप आत्मा में लगाने पर भी, मृत्यु तो आनेवाली है, ऐसे विकल्प द्वारा आपसे अन्य बाह्य समस्त पदार्थों की ओर निरन्तर भ्रमा करता है। क्या कहते हैं? मन को ऐसा होता है कि यदि अन्दर में वह जायेगा और जायेगा, तो मैं मर जाऊँगा। इसकी अपेक्षा बाहर फिरा करूँ तो जीवित तो रहूँ। मन को ऐसा होता है कि मैं यदि बाहर भ्रमूँ, बाहर, तो मैं जीवित रहूँगा और अन्दर में गया तो मुझे मार डालेंगे। इसलिए वह बाहर में घूमा करता है। समझ में आया?

हे स्वामिन्! तो क्या करना? क्योंकि इस जगत् में मोहवशात् किसे मृत्यु का भय नहीं है? अत: मन को भी मृत्यु का भय है। इसलिए मन की ओर का वेग अन्तर में ढलता नहीं और वेग ऐसे (बाहर में) जाये, उतना संसार और बन्धन का कारण है। प्रभु! मृत्यु का भय तो सर्व को है। इसलिए सविनय प्रार्थना है कि समस्त प्रकार के अनर्थ करनेवाले और अहित करनेवाले इस मेरे मोह को नष्ट करो। भगवान! नष्ट करो, यह तो कथन की शैली (है)। आत्मा के स्वभाव का अवलम्बन होकर मोह नष्ट होओ; दूसरे किसी उपाय से मोह का नाश नहीं होता।

सर्व कर्मों में मोह ही बलवान है — ऐसा आचार्य दर्शाते हैं। **सोलहवीं गाथा,** ज्ञानावरण आदि समस्त कर्मों में मोहकर्म ही अत्यन्त बलवान कर्म है। उस मोह के प्रभाव से यह मन जहाँ-तहाँ चंचल बनकर भ्रमण करता है। यह निमित्त से कथन है। उसकी तरफ ढला न, इसलिए उससे ही मानो यह प्रभाव पड़कर मन अस्थिर होता है। मन बेचारा मरण से डरता है, देखो! यह मोह नहीं हो तो निश्चयनय से, न तो कोई जीवे या न तो कोई

मरे। यह तो सच्चिदानन्द प्रभु ध्रुव है, क्योंकि आपने इस जगत् को जो अनेक प्रकार से देखा है, वह पर्यायार्थिकनय से-अपेक्षा से देखा है, अनेक प्रकार तो पर्यायनय से देखा है। द्रव्यार्थिकरूप से चिदानन्दस्वरूप एक भाव से है, एकरूप परमस्वभाव से है अर्थात् परमस्वभाव के एकरूप के आश्रय से अनेकपना टल सकता है, ऐसा अन्दर आलोचनारूपी प्रायश्चित्त किया है। कहो, समझ में आया ?

द्रव्यार्थिकनय की अपेक्षा से नय द्रव्य अर्थात् त्रिकाली सच्चिदानन्द प्रभु, इस दृष्टि में कुछ अनेकपना नहीं हो सकता। अन्दर में एकाकार में ढले, वहाँ एकपने होता है। बाहर की दृष्टि, देखो तो अनेकपना उसमें दिखता है। यह एक और अनेक का विवेक करके एक में आना, यही आलोचना और मोक्ष का मार्ग है। इसलिए हे जिनेन्द्र! इस मेरे मोह को सर्वथा नष्ट करो अर्थात् पर की ओर की सावधानी को नाश करना है, दूसरा कोई नाश करना नहीं है अर्थात् स्वभावसन्मुख होने से मोह का नाश हो जाता है। उपदेश की शैली तो ऐसी ही आती है न!

सत्रहवीं, पर संयोग अध्रुव जानकर, उनसे हटकर एक ध्रुव आत्मस्वभाव में स्थित होने की भावना। वायु से व्याप्त समुद्र की क्षणिक जल लहरें, जल लहरों के समूह समान सर्व काल में-सर्व क्षेत्र में यह जगत क्षणमात्र में विनाशी है। क्षणमात्र में पलटते सभी पदार्थ पर्यायें हैं। ऐसा सम्यक् प्रकार से विचार करके, यह मेरा मन समस्त संसार को उत्पन्न करनेवाले ऐसे व्यापार प्रवृत्ति से रहित होकर, हे जिनेन्द्र! आपके निर्विकार परमानन्दमयी परमब्रह्मस्वरूप में ही स्थित होने को इच्छा करता है। मेरी भावना तो अन्तरस्वभाव में एकाकार होऊँ, यही मेरी भावना है। बाहर में कुछ अस्थिर हो जाये, वह मेरा हित नहीं; मेरा हित तो अन्तर में जाना, वह हित है।

अठारहवीं, धर्म (भावना)। शुभ-अशुभ उपयोग से हटकर शुद्ध चैतन्य में निवास की भावना। निवास की भावना — यह ऊपर से शब्द बनाये हैं। जिस समय अशुभ उपयोग वर्तता है, (पाप के परिणाम), उस समय तो पाप की उत्पत्ति होती है और उस पाप से जीव अनेक प्रकार के दुःखों का अनुभव करता है। जिस समय शुभ उपयोग अर्थात् धर्म उपयोग... पाठ में धर्म शब्द है। धर्म अर्थात् शुभ उपयोग, ऐसा वर्तता है, उस समय पुण्य

की उत्पत्ति होती है। लो! स्पष्ट बात, पद्मनन्दि (कहते हैं) धर्म से पुण्य होता है, धर्म अर्थात् शुभ उपयोग और अशुभ से पाप होता है; और उस पुण्य से जीव को सुख प्राप्त... ये लोग मानें ऐसी सामग्री पुण्य से मिलती है और इस पुण्य से... और ये दोनों पाप-पुण्यरूप द्वन्द्व संसार का ही कारण है। शुभ और अशुभ दोनों भाव, यह व्रत और अव्रत दोनों भाव संसार का ही कारण है। आत्मा के स्वभाव की शान्ति का कारण नहीं। देखो न! कितनी एक आलोचना के बाहने भी कितनी शैली रखी है! समझ में आया?

अर्थात् इन दोनों से सदा संसार ही उत्पन्न होता है किन्तु शुद्धोपयोग से अविनाशी आनन्दस्वरूप पद की प्राप्ति होती है। यह एक सिद्धान्त पूरा। शुद्ध श्रद्धा-ज्ञान और शुद्ध उपयोग की प्राप्ति से ही मुक्ति होती है। इसके अतिरिक्त तीन काल में मुक्ति है नहीं। हे अरिहन्त प्रभु! आप तो उस पद में निवास कर रहे हो, भान में है कहते हैं; परन्तु मैं उस शुद्ध उपयोगरूप पद में निवास करने की भावना कर रहा हूँ। देखो! यह धर्म की भावना। पढ़ते भी नहीं, विचारते भी नहीं यह। आचार्यों ने जंगल में रहकर, दुनिया के हित के लिये अमृत बरसाया है परन्तु लेने की, पढ़ने की जिसे गरज नहीं और अपनी दृष्टि छोड़नी नहीं, उसे यह समझ में आये वैसा नहीं हैं। कहो, समझ में आया?

उन्नीस, आत्मस्वरूप का नास्ति और अस्ति से वर्णन। हे प्रभु! जो आत्मा का स्वरूप आत्मज्योति, यह सच्चिदानन्द मूर्ति आत्मा, वह नहीं तो स्थित अन्दर... अन्दर अर्थात् कर्म के रजकण में वह नहीं, राग में नहीं; नहीं स्थित बाह्य में, शरीर में वह नहीं। लो! तथा नहीं तो सिद्ध दिशा में, ये बाहर दिशाएँ हैं, उनमें आत्मा नहीं है, आत्मा अन्तर्मुख चिदानन्द मूर्ति है; बाह्य में कहीं उसका अस्तित्व है नहीं। अथवा नहीं स्थित विदिशा। दिशा अर्थात् पूर्व, पश्चिम, उत्तर, दक्षिण; विदिशा अर्थात् चार कौने, उनमें आत्मा नहीं है; आत्मा तो अन्दर अरूपी, ज्ञानधाम चैतन्यधाम पड़ा है।

तथा नहीं स्थूल, वह आत्मा स्थूल नहीं कि इन्द्रियों से पकड़ में आये; तथा नहीं सूक्ष्म अर्थात् मन से पकड़ में आये, ऐसा भी नहीं है अथवा सूक्ष्म नहीं अर्थात् चैतन्यमूर्ति है, ऐसा। इस प्रकार सूक्ष्म, ऐसा परमाणु सूक्ष्म है, और अमुक है, ऐसा वह नहीं। वह आत्मज्योति नहीं तो पुर्लिंग, वह आत्मा सच्चिदानन्द प्रभु नहीं पुरुष लिंग, उसे पुरुष का

लिंग है नहीं, वेद नहीं; नहीं स्त्रीलिंग, उस स्त्री का लिंग प्रभु आत्मा में नहीं है। इस बाहर के पर्दे को देखकर अन्तर की मानी मान्यता करना, वह भ्रम है। भगवान आत्मा चैतन्य विराजता है, वह पुरुष के लिंग में भी नहीं और स्त्री के लिंग में भी नहीं - ऐसा। नहीं नपुंसक लिंग, भगवान आत्मा नहीं हिजड़ा या पावैया, नहीं नपुंसक। वह तो सच्चिदानन्द की मूर्ति है। सत्... सत्... सत्... ज्ञानानन्द की मूर्ति है। ऐसा भान करना और यह एक वेद आदि में मैं नहीं हूँ, उससे नास्ति और स्वरूप से अस्ति हूँ — ऐसा भान करना, उसे आलोचना कहते हैं।

और वह नहीं भारी, भगवान अन्दर अरूपी आनन्दघन नहीं तोलवाला, नहीं हल्का लो! अरूपी है न? हल्का कहलाये? हल्का तो जड़ को कहते हैं। भारी और हल्का, यह तो दोनों की अपेक्षा रखे; वह तो निरपेक्ष है और चैतन्यतत्त्व, वह ज्योति भगवान आत्मा कर्म नहीं है, कर्म से रहित है। प्रभु अन्दर सच्चिदानन्द मूर्ति स्पर्श से रहित है, शीत-उष्ण का स्पर्श नहीं। शरीर से रहित अशरीर है; द्वन्द्व से रहित अद्वन्द्व है। संख्या गणना-गणना एक, दो, तीन, चार, पाँच, छह, सात, आठ, दस — ये संख्या आत्मा में नहीं है। नहीं वचन, वाणी आत्मा में नहीं है, वाणी तो जड़ की ध्वनि, एक शब्दों की वर्गणा की ध्वनि उठती है। भगवान अरूपी पद आत्मा में वाणी कैसी? वचनातीत प्रभु आत्मा है, वह वर्ण से रहित है, उसे रंग-बंग आत्मा में नहीं।

बीसवीं, अब अस्ति से कहते हैं—निर्मल है, निर्मल प्रभु है, चैतन्य स्वच्छ स्वभाव है, सम्यग्ज्ञान-दर्शनस्वरूप मूर्ति है, सच्चे दर्शन और ज्ञानरूप मूर्ति है। उस उत्कृष्ट ज्योतिस्वरूप मैं हूँ। धर्मी जीवों को ऐसे उसके अपने आत्मा में भावना करके, उत्कृष्ट ज्योतिस्वरूप मैं हूँ। किन्तु उस उत्कृष्ट आत्मस्वरूप ज्योति से मैं भिन्न नहीं। दूसरी चीजें राग, स्पर्श, कर्म आदि से पृथक् परन्तु मेरी चैतन्य ज्योतिस्वरूप है, उससे मैं भिन्न नहीं हूँ — ऐसे दो को विभाजन करके भेदज्ञान करना, यह इसका नाम आलोचना कहने में आता है।

त्रिकाली आत्मा की शक्ति। हे भगवान! चैतन्य की उन्नति का नाश करनेवाले और बिना कारण सदा शत्रु ऐसे दुष्कर्म ने आप में और मुझमें भेद डाला, प्रभु! यह परमात्मा और मैं भी परमात्मा, आत्मा परन्तु यह कर्म बीच में निमित्त होकर मेरा भेद कर गया।

जड़कर्म का निमित्तपना, उसके कारण यह सब संसार और अब यह भेद पड़ा। प्रभु! परन्तु मैं और तू दोनों एक जाति हैं, हों! कोई जरा भी अन्तर नहीं है। मैं वैसे सिद्ध और सिद्ध वैसा मैं। दुष्कर्मों ने आप में और मुझमें भेद किया, किया स्वयं ने परन्तु उसे निमित्त से कथन करके, फिर पड़ा है — ऐसा कहते हैं। अपने में है नहीं न, ऐसे।

परन्तु कर्म शून्य अवस्था में जैसा आपका आत्मा है, वैसा ही मेरा आत्मा है। इस समय यह कर्म और मैं आपके सामने खड़े हैं। हैं दोनों परन्तु इससे उस दुष्कर्म को हटाकर दूर करो। प्रभु! नीतिवान प्रभुओं का तो यह धर्म है। प्रार्थना करता है, नीतिवान् परमात्मा प्रभु! आपका यह धर्म है और मेरा भी यह धर्म है — ऐसा कहते हैं कि सज्जनों की रक्षा करे और दुष्टों का नाश करे, आता है न, राक्षस का नाश करते हैं? सज्जनों की रक्षा करे, परमात्मा तेरी चीज की चीज तो ऐसी है। सज्जन, सज्जनों की रक्षा करे और दुष्ट अर्थात् विकार आदि का-राक्षसों का नाश करे, ऐसा प्रभु तू, यह तेरा स्वभाव है। यह ऐसा मेरा स्वभाव है। समझ में आया?

इक्कीस, आत्मा का अविकारी स्वरूप। हे भगवान! विविध प्रकार के आकार और विकार करनेवाले बादल आकाश में होने पर भी, जैसे आकाश के स्वरूप का कुछ भी फेरफार नहीं कर सकते; वैसे आधि—मन में कल्पना आदि; व्याधि—शरीर के रोग; जरा—शरीर की जीर्णता; मरण—देह का अन्त, इत्यादि भी मेरे स्वरूप का कुछ भी फेरफार कर सके — ऐसा नहीं है, क्योंकि वे सर्व शरीर के विकार हैं। आधि, व्याधि, उपाधि सब शरीर के भाग हैं, वे आत्मा में हैं नहीं, जड़ हैं। जबकि मेरा आत्मा ज्ञानवान और शरीर से भिन्न है, ऐसा कहकर अपने आत्मा के अविकारी स्वरूप का ध्यान विचारते हैं।

स्व में सुख और पर में दुःख। **बाईस,** जैसे मछली, पानीरहित भूमि पर पड़ने से तड़प कर दुःखी होती है, वैसे मैं भी शीतल छाया के बिना, अरे! चन्दन, शीतल, शान्तरस से भरपूर भगवान आत्मा के बिना अनेक प्रकार के दुःखों से भरपूर संसार में सदा जल रहा हूँ। विकल्प में आता हूँ, वहाँ जल रहा हूँ। मेरा शीतल फव्वारा अन्दर पड़ा है, उसमें शान्ति और आनन्द है। जैसे वह मछली जब जल में रहती है, तब सुखी रहती है; वैसे जब तक मेरा मन आपके करुणारसपूर्ण अत्यन्त शीतल चरणों में समर्पित रहता है, तब तक मैं भी

सुखी रहता हूँ। इसलिए हे नाथ! मेरा मन आपके चरण-कमल छोड़कर, अन्य स्थल में वहाँ, जहाँ मैं दु:खी होऊँ, वहाँ प्रवेश न करे, यह मेरी प्रार्थना, विनय है। भगवान के नाम से अपनी आत्मा को कहता है।

आत्मा और कर्म की भिन्नता। **तेईस,** हे भगवान! मेरा मन इन्द्रियों के समूह द्वारा बाह्य पदार्थों के साथ सम्बन्ध करता है। इससे अनेक प्रकार के कर्म आकर मेरी आत्मा के साथ बँधते हैं। परन्तु वास्तविकरूप से मैं उन कर्मों से सदा काल, सर्व क्षेत्र में पृथक् हूँ, तथा वे कर्म आपके चैतन्य से भी पृथक् ही हैं अथवा तो चैतन्य से इन कर्मों को भिन्न करने में, चैतन्य से इन कर्मों को पृथक् करने में आप ही कारण हो। शुद्ध आत्मा भिन्न करने में कारण है, दूसरा कोई कारण है नहीं। आहाहा! समझ में आया? हे जिनेन्द्र! मेरी स्थिति निश्चयपूर्वक आप में ही है। वास्तव में तो मैं ज्ञानस्वरूप में ही बसा हुआ हूँ, राग आदि और कर्म आदि मेरे स्वरूप में नहीं हैं।

(चौबीस) धर्मी की अन्तर भावना अथवा तुझे क्या प्रयोजन पर से? हे आत्मन! तुझे न तो लोक से काम; न तो अन्य के आश्रय से काम; तुझे न तो द्रव्य से प्रयोजन (पैसे से प्रयोजन); न तो शरीर से काम; तुझे वचन और इन्द्रियों से भी कुछ काम नहीं तथा दस प्राणों से भी प्रयोजन (नहीं), प्राण, प्राण, यह पाँच इन्द्रियाँ, मन, वचन और काया, श्वाँस और आयु से भी कुछ कारण / प्रयोजन नहीं है। पुण्य-पाप के अनेक प्रकार के विकल्प से भी तेरा कुछ प्रयोजन नहीं है, क्योंकि वे सर्व पुद्गलद्रव्य की पर्यायें हैं। ये दया, दान के विकल्प उठें, (वे) सब पुद्गल की पर्याय है। मुझमें तो है नहीं न, वे उठे वे तो जड़ के हैं, इनका विवेक करके पर से भेदज्ञान करते हैं। समझ में आया?

देखो न! जंगलों में मुनि सिंहवृत्ति, ऐसे परमात्मा के साथ बातें की है अन्दर, अन्दर में डोल रहे हैं। आहाहा! प्रभु! ऐसा चैतन्य आत्मा! यह विकल्प है, वह तो सब जड़ की पर्यायें हैं। मेरी पर्याय ऐसी नहीं होती, मेरी पर्याय तो पवित्र और शान्त होती है। इसलिए उस अपवित्र पर्याय से, जड़ से पृथक् स्वरूप को मैं सेवन करता हूँ। समझ में आया? और तुझसे भिन्न है तो भी बहुत खेद की बात है कि तू उन्हें अपना मानकर, उनका आश्रय करता है, इससे क्या तू दृढ़ बन्धन से नहीं बँधेगा? अवश्य बँधेगा।

भेदविज्ञान द्वारा आत्मा में से विकार का नाश। **पच्चीस,** धर्मद्रव्य, एक अधर्मास्ति नाम का पदार्थ है। अधर्मद्रव्य भी पदार्थ है; आकाशद्रव्य, कालद्रव्य ये चारों द्रव्य किसी भी प्रकार से मेरा अहित नहीं करते; अहित तो कोई करता नहीं परन्तु निमित्त हो उसे समझाते हैं। किन्तु ये चारों द्रव्य मुझे गति, स्थिति आदि कार्य में मुझे सहायकारी हैं, परन्तु यह मेरे सहाय होकर रहते हैं परन्तु एक यह नोकर्म, यह शरीर है न तीन, और छह पर्याप्ति, आहार, शरीर, मन, इन्द्रियाँ देखो तो, और कर्म जिसका स्वरूप ऐसा, तथा समीप में रहनेवाले ये। समझ में आया? कर्म जिसका स्वरूप ऐसा तथा समीप में रहनेवाला और बन्ध करनेवाला यह पुद्गलद्रव्य ही मेरा बैरी है। निमित्तरूप से है। वरना वे निमित्तरूप से बेचारे वे तो सहायक होते हैं। मैं गति करूँ न... समझ में आया? इसलिए इस समय मैंने उसके भेदविज्ञानरूप तलवार से खण्ड-खण्ड उड़ा दिया है। भगवान मैं तो आत्मा हूँ और यह विकल्प आदि यह पुद्गल की पर्याय और पुद्गल यह मेरे अहित के करनेवाले (हैं) उन्हें मैंने छेद दिया है, भिन्न किया हैं कि मेरी चीज में वे हैं नहीं।

छब्बीस, राग-द्वेष का त्याग। जीवों के अनेक प्रकार के राग-द्वेष करनेवाले परिणामों से जिस प्रमाण पुद्गलद्रव्य परिणमता है — कर्म। उस प्रमाण धर्म-अधर्म, आकाश, काल, चार अमूर्तद्रव्य राग-द्वेष करनेवाले परिणामों से परिणमते नहीं हैं। उन राग-द्वेष द्वारा प्रबल कर्मों की उत्पत्ति होती है और उन कर्मों से संसार खड़ा होता है; उससे संसार में अनेक प्रकार के दुःख भोगने पड़ते हैं। इसलिए कल्याण की इच्छा रखनेवाले सज्जनों को उन राग-द्वेष को सर्वथा छोड़ना चाहिए, सर्वथा छोड़ना चाहिए; कथंचित् (छोड़ना चाहिए) — ऐसा नहीं है। इसमें कुछ अनेकान्त होगा या नहीं? कुछ छोड़ना और कुछ नहीं छोड़ना, (ऐसा होगा या नहीं)? सर्वथा कहा है इसमें? आनन्दस्वरूप शुद्धात्मा का ध्यान और मनन (करने और) बिल्कुल राग-द्वेष छोड़ने योग्य है और आत्मा अकेला ही आदरणीय है, इसका नाम अनेकान्त है, दूसरा अनेकान्त नहीं हो सकता।

सत्ताईस, हे मन! बाह्य तथा तुझसे भिन्न जो स्त्री, पुत्र आदि प्रकार तो है, उनमें राग-द्वेषस्वरूप अनेक प्रकार के विकल्प करके तू किसलिए दुःखद (दुःख द) दुःख के देनेवाले अशुभकर्म व्यर्थ बाँधता है। यदि तू आनन्दरूप जल के समुद्र में, आनन्दस्वरूप

जल के सागर में शुद्धात्मा को अन्तर पाकर उसमें निवास करेगा तो तू निर्वाणरूप विस्तरण सुख को अवश्य प्राप्त करेगा। इसलिए तुझे आनन्दस्वरूप शुद्धात्मा में ही निवास करना चाहिए और उसका ध्यान व मनन करना चाहिए।

आत्मा मध्यस्थ साक्षी है। **(अट्ठाईस)** हे जिनेन्द्र! आपके चरणकमल की कृपा से पूर्वोक्त बातों को सम्यक् प्रकार से मन में विचार कर, जिस समय यह जीव शुद्धि के लिये आध्यात्मरूप तुला में अन्दर में पैर रखता है, उस समय इसे दोषित बनाने को कर्मरूप भयंकर बैरी इसमें पल्ले में हाजिर है। हे भगवान! ऐसे प्रसंग में आप ही मध्यस्थ साक्षी हो। मैं मध्यस्थ ही आत्मा साक्षी हूँ कि यहाँ राग होता है और यह स्वभाव की ओर ढलता है, साक्षी आत्मा है। समझ में आया?

उनतीस, अब विकल्परूप ध्यान तो संसारस्वरूप है। आहा! द्वैत। भगवान का स्मरण आदि विकल्प तो संसारस्वरूप है और निर्विकल्प ध्यान, मोक्षस्वरूप है — ऐसा आचार्य दर्शाते हैं। सविकल्प ध्यान तो वास्तविकरूप से संसारस्वरूप है, उसमें राग का भाग आता है। अद्वैत निर्विकल्प ध्यान चिदानन्द प्रभु दृश्य को देखनेवाला इत्यादि एक को छोड़कर एकरूप स्वरूप का ध्यान, वह मोक्षस्वरूप है। मोक्ष का कारण, वह मोक्षस्वरूप है। संसार तथा मोक्ष में प्राप्त होती यह उत्कृष्ट दशा का संक्षेप से कथन है, यह संक्षिप्त से संक्षिप्त सर्वज्ञ को कहना हो तो यह बात है कि जितना विकल्प उठे, वह संसार-राग और निर्विकल्पदशा, वह मोक्ष। यह संक्षिप्त में बारह अंग का कथन मोक्ष और बन्ध के लिये है। समझ में आया?

जो मनुष्य पूर्वोक्त दोनों में से प्रथम द्वैत पद से धीरे-धीरे परांमुख होकर... यह विकल्प मदद करता है, इसलिए इसे सेवो — ऐसा नहीं। विकल्प भाग आता अवश्य है परन्तु उससे हटते... हटते... हटते अद्वैत में, चैतन्य में आवे, उसकी मुक्ति होती है। इस विकल्प में रहे, उसकी मुक्ति नहीं होती। बहुत कठिन बात है, हों! धीरे-धीरे वापस हटकर। वह (अज्ञानी) कहता है कि उसे (विकल्प को) करके अन्दर में / अद्वैत में जाया जाता है। ऐसा तीन काल में भी नहीं होता। द्वैत पद से... हटकर अद्वैतपद का अवलम्बन स्वीकार करता है, वह पुरुष निश्चयनय से अर्थात् सच्ची दृष्टि से नामरहित हो जाता है और

वह पुरुष व्यवहारनय से ब्रह्मा, धाता, विष्णु, शंकर नामों से सम्बोधित किया जाता है। वैसे आत्मा और ऐसे नाम से कहा जाता है। ऐसा आत्मा हो उसे। भगवान आत्मा सच्चिदानन्द निर्मलानन्द प्रभु विकार रहित होकर अद्वैत का ध्यान करके, आत्मा का। अद्वैत अर्थात् सब एक होकर ऐसा नहीं, हों! आत्मा अद्वैत एक स्वरूप है। पूर्णानन्द, भेद नहीं, उसका ध्यान करके आत्मा मुक्ति को प्राप्त करता है। फिर उसका नाम चाहे जो व्यवहार से कहो।

(तीस) दृढ़ श्रद्धा की महिमा। हे केवलज्ञानरूप नेत्रों के धारक जिनेश्वर! मोक्ष प्राप्त करने के लिये आपने जो चारित्र का वर्णन किया है, वह चारित्र तो इस विषम कलिकाल में मेरे जैसे मनुष्य बहुत कठिनता से धारण कर सकें, वैसा है। नग्न-दिगम्बर मुनि हैं, आचार्य हैं, पंच महाव्रतधारी हैं, तीन कषाय का नाश है तो भी कहते हैं प्रभु! तुमने चारित्र का वर्णन किया, ओहोहो! हमारे जैसे पामर बहुत कठिनता से कर सकते हैं परन्तु पूर्वोपार्जित पुण्यों से आपमें हमारी जो दृढ़भक्ति है, मेरे पुरुषार्थ से अन्दर में जो पवित्रता से आत्मा के प्रति प्रेम और आत्मा के प्रति दृष्टि हुई है, वह भक्ति, हे जिन! मुझे संसाररूपी समुद्र से पार उतारने में नौका समान होओ। मुझे संसार समुद्र से यह भक्ति ही पार उतार सकेगी।

मोक्षपद की प्राप्ति के लिये प्रार्थना। **इकतीस,** इस संसार में भ्रमण से... अब अन्तिम शिक्षा, अन्तिम गाथायें हैं न? ये मुनि है न? इसलिए यहाँ से मरकर स्वर्ग में जानेवाले हैं, इसलिए पहले से निषेध करते जाते हैं, अन्तिम गाथायें हैं इसलिए.... नहीं... नहीं.... रे नहीं... इन्द्रपद यहाँ से मिलेगा मुनि को; राग-बाकी है (इसलिए), नहीं रे नहीं, हमें नहीं चाहिए। संसार में भ्रमण करके इन्द्रपना सामान्य, निगोदपना (निगोद अर्थात् यह आलू, शक्करकन्द) इन दोनों के बीच अन्य समस्त प्रकार की योनियाँ भी अनन्त बार प्राप्त की है; इसलिए इन पदवियों में से कोई भी पदवी हमारे लिये अपूर्व नहीं है।

इसलिए मैं यहाँ से पंचम काल का साधु और स्वर्ग में जाऊँगा, इसलिए मुझे उसकी इच्छा और अनुमोदना है, ऐसा है नहीं — ऐसा कहते हैं। बहुत से तो ऐसा कहते हैं न? हम स्वर्ग में जायेंगे और धूल में जायेंगे? स्वर्ग में अर्थात् धूल में। उसे आत्मा का भान नहीं। किन्तु मोक्षपद को देनेवाले सम्यग्दर्शन-सम्यग्ज्ञान-सम्यक्चारित्र की पदवी

जो अपूर्व है, तीन की एकता। वह अभी तक तीन की पूर्ण एकता हुई नहीं। इसलिए हे देव! हमारी सविनय प्रार्थना है कि सम्यग्दर्शन-सम्यग्ज्ञान-सम्यक्चारित्र की पदवी ही पूर्ण करो। यह तो मूल पाठ में है। तीन की एकता; दूसरा कुछ मुझे चाहिए नहीं। पूर्ण दृढ़, श्रद्धा, ज्ञान, और रमणता रहूँ, इससे मेरी मुक्ति (होगी)। दूसरा चाहिए नहीं।

बत्तीस, मुमुक्षु की मोक्ष प्राप्ति के लिए दृढ़ता। जरा इन्होंने अर्थ, श्री वीर शब्द गाथा में पड़ा है, इसलिए इसका अर्थ ऐसा किया है। बाह्य अतिशय आदि और अभ्यन्तर केवलज्ञान आदि लक्ष्मी से शोभित श्री वीरनाथ भगवान ने — ऐसा किया है परन्तु वास्तव में उसका आशय, भाई! पद्मनन्दि आचार्य का (आशय) अपने वीरनन्दि गुरु को याद किया है। समझ में आया? श्री शब्द पड़ा है, 'श्री वीरेण' इसलिए श्री का ऐसा अर्थ किया परन्तु श्री वीरेण, इनके गुरु को याद किया है। यहाँ जिनेश को याद करते-करते तो अभी तक प्रार्थना की।

अब कहते हैं मेरे वीरनन्दि गुरु हैं, उन वीरनाथ भगवान ने अपने प्रसन्नचित्त से हम पर मेहरबानी की। हमारे गुरु ने सर्वोच्च पदवी की प्राप्ति के लिये मेरे चित्त में उपदेश की जो जमावट की है, जमावट की है वह, अर्थात् उपदेश दिया है, उस उपदेश के समक्ष, क्षणमात्र में विनष्ट ऐसा पृथ्वी का राज मुझे प्रिय नहीं है। यहाँ से स्वर्ग में जाया जाये तो वह मुझे प्रिय नहीं है, यह बात तो दूर रहो, परन्तु हे प्रभु! हे जिनेश! उस उपदेश के समक्ष तीन लोक का राज्य भी मुझे प्रिय नहीं है। समझ में आया? इन्द्र-बिन्द्र हो अर्धलोक का स्वामी और इसका स्वामी और..... मेरे गुरु ने मुझे उपदेश ऐसा दिया, वह चित्त में ऐसा जम गया है, उसके समक्ष हमें तीन लोक का राज भी तृणवत् लगता है। वह राज्य हमें नहीं चाहिए। हमें तो स्वरूप की पूर्ण प्राप्ति का राज चाहिए।

अन्तिम तैतीस, देखो! नौवाँ अधिकार है, छब्बीस में नौवाँ अधिकार है और गाथा तैतीस है। अर्थात् यह भी तीन तिया नौ — समभाव, वीतरागपने आलोचना का स्वरूप है, वह इस प्रकार सहज मुनि के मुख में आ गया है। कहते हैं, श्रद्धा से जिसका शरीर नम्रीभूत है, जिसकी नम्रता नर-परमात्मा के स्वभाव के प्रति हो गयी है — ऐसा जो मनुष्य, इन पद्मनन्दि आचार्य रचित आलोचना नामक कृति को तीन काल — प्रातः, मध्याह्न और

सायंकाल अर्हं प्रभु के समक्ष पढ़े, वह बुद्धिमान मनुष्य ऐसे उच्च पद को प्राप्त होता है कि जो पद, बड़े-बड़े मुनि चिरकालपर्यन्त तप द्वारा घोर प्रयत्न से पा सकते हैं।

बात तो यह उग्रता प्रयत्न है न अन्दर में ? पर से भेद... भेद... भेद... भेद... धारा चली जाती है। एक-एक गाथा में; ऐसी धारावाले अल्पकाल में मोक्ष की प्राप्ति करते हैं। जो मनुष्य प्रातः काल, मध्याह्न काल और सायंकाल तीनों काल श्री अरहन्तदेव के समक्ष, परमात्मा के समक्ष आलोचना का पाठ करता है, वह शीघ्र मोक्ष प्राप्त करता है। इसलिए मोक्ष अभिलाषियों को श्री अरहन्तदेव के समक्ष, श्री पद्मनन्दि आचार्य द्वारा रचित आलोचना नाम की कृति का पाठ तीनों काल अवश्य करना चाहिए और उस प्रकार की भावना करनी चाहिए। आलोचना पूरी हुई। एक घण्टा हुआ, लो!

(**श्रोता :** प्रमाण वचन गुरुदेव!)